राह 'प्रजातंत्र' से जनतंत्र की

प्रज्ञा जोशी

नवंबर 26—भारत के संदर्भ में एक नया अध्याय बनकर उभरता दिख रहा है। एक ओर तकरीबन 200 लोग मारे गए, मगर भारत के ही क्या किसी एशियाई देश के संदर्भ में यह संख्या मायने नहीं रखती। नहीं, यह गैर जिम्मेदाराना मत नहीं है। हमारे जैसे देशों में 'मरने' के लिए या 'जान गंवाने' के लिए आतंकवाद ही तो नहीं है। इससे अस्सी गुना मौतें तो किसानों की आत्महत्या के रूप में बीते साल में हुई है। परंतु हमने कभी यूं सड़कों पर उतरकर हमारी कृषि नीति में आधारभूत परिवर्तन की मांग नहीं उठायी। बंबई जिसे भारत की अर्थव्यवस्था का दिल माना जाता है उसमें यह पहला हादसा नहीं है। बम्बई की जीवनवाहिनी लोकल ट्रेनों में बम विस्फोटों की शृंखला ने तकरीबन इतनी ही जानें ली थीं। उससे पहले बारिश के बवंडर ने भी बंबई की जिंदगी को मौत का खौफ दिखाया। परंतु हमारे मीडिया ने आम मुंबईकर को असुरक्षा के खिलाफ आवाज उठाने के लिए मजबूर नहीं किया। मीडिया ने अगले दिन काम पर हाजिर होने वाले मुंबईकर को सलाम किया था। मरनेवाले लोग और मृत्यु का ठिकाना बदलता जा रहा है। मरनेवालों की सूची में इस बार

केवल भारत की जनता नहीं है। आग की लपटें उठ रही हैं, मुंबई की क्षितिज रेखा पर दैदिप्य मान 'ताज' के औपनिवेशिक स्थापत्य के फ्यूजन को उभारते गुंबदों से और मरने वालों में ना केवल हमारे विदेशी मेहमान हैं, बल्कि हमारे अपने गणमान्य नागरिक भी। मौत की सुई जब प्रजा या जनता से नागरिकों की ओर घूमती है तो संसद भी 'राष्ट्रवादी' स्वरों से गूंज उठती है।

इस हमले को भारतीय राज्य पर हमला मानते हुए अमेरिका ने भी भारत का समर्थन किया और पाकिस्तान को फटकारा है। कुल मिलाकर चरमराती अमेरिकी अर्थव्यवस्था के चलते अंतरराष्ट्रीय पटल पर इस हमले से भारत की स्थिति अचानक मजबूत बनकर उभरी है। भारत के पास पाकिस्तान के खिलाफ सबूत है और भारत की राज्य व्यवस्था 'कैडी' बनने के सारे गुण अख्तियार करती जा रही है। सुरक्षा कानूनों से लेकर सुरक्षा तकनीक तक सारे अस्त्र तैयार किए जाएंगे। जहां तक संसदीय प्रजातंत्र की बात है तो कोई रुकावट नहीं है। विपक्ष भी साथ है और एकाध असहमति के स्वर निकले तो उन्हें घुमजाव करना पड़ा। हार्ड स्टेट शायद ऐसे ही बनती है। इस हमले ने भारतीय राज्य व्यवस्था को ऐसा मौका प्रदान किया है।

तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण पहलू जो इस हमले ने उभारा है वह है राजनीति के खिलाफ उभरती आवाज। हर हफ्ते राजनेताओं और राजनीति के खिलाफ लोग मानव शृंखलाएं बना रहे हैं। मीडिया इसे नागरिक शक्ति का सबलीकरण मानते हुए इस ऊर्जा को विस्मय से देख रहा है। राजनीति और राजनेताओं को पर्यायवाची बनाने इतनी भारतीय प्रजा बेवकूफ नहीं। इन्हीं हालातों के बीच हमारे सात विधानसभाओं के चुनाव संपन्न हुए। कश्मीर सहित सभी अन्य राज्यों में मतदाता खासी संख्या में आगे आए और मतदान कर अपने नागरिकत्व के दायित्व का निर्वाह किया। यह कैसी विडंबना है कि एक तरफ राजनेताओं और राजनीति के खिलाफ लोग लामबंद हो रहे हैं और दूसरी तरफ मतदान भी कर रहे हैं।

यह जनतंत्र की ताकत है कि वो हमें स्वतंत्रता देती है अपने विभ्रमों से रू-ब-रू होने की। परस्पर विरोधी स्वर केवल और केवल जनतंत्र में संभव हैं। जनतंत्र विविधता का उत्सव है। यहां सभी मतों को प्रकट करने का अवसर मिल सकता है, बस हालातों को अवसर में बदल देने की कला आ जाए। 'यह तो अवसरवादिता है' और 'जनतांत्रिक मूल्यों का ह्रास है' ऐसे स्वर निकलना लाजमी है। आर्थिक उतार-चढ़ावों ने नई पीढ़ी को सिखाया है दुर्दम्य आशावाद, अवसरवादिता का दूसरा चेहरा है। अवसरवादिता नकारात्मक रूप धारण तब करती है जब समाज में सभी वर्गों को अवसरवादिता के अवसर समान रूप में नहीं मिलते तथा हालातों को उन्नति के अवसरों में बदलते वक्त वंचितों के प्रति घृणा और निर्मम दमन के रास्ते अख्तियार कर लिए जाते हैं।

जनतंत्र में साध्य और साधनों का अनुपात बिठाना हमेशा ही पेचीदा काम रहा है। साध्य और साधन हमेशा मूल्यों के सवालों से जोड़कर देखे जाने चाहिए। समानता और स्वातंत्र्य जनतंत्र के साधन है या साध्य है यह सवाल राज्य और नागरिकों के बीच की कड़ी को सामने लाता है। जनतंत्र में नागरिक राज्य व्यवस्था का केंद्र बनकर उभरता है। किसी भी सशक्त जनतंत्र में राज्य और नागरिक इनके बीच साध्य-साधनों के द्वंद्व की कड़ी जब छूट जाती है तो जनतंत्र बिखर जाता है। नागरिक और राज्य व्यवस्था अलग पायदानों पर हो तो मूलतः जनतंत्र की नींव ही कमजोर है। ऐसे में अवसरवादिता के राजनैतिक उत्थान को जनतंत्र का बिखराव ही माना जाएगा।

अवसरवादिता के राजनैतिक उत्थान को फिलहाल राजस्थान के जातिवादी संगठनों के उभार के रूप में देखते हैं। राजस्थान के चुनाव लगातार जातीय संघर्षों के तीक्ष्ण समीकरणों पर लड़े जा रहे हैं। राजस्थान में यह कोई नई परिस्थिति नहीं है। परंतु अगर नया आयाम कोई है तो पिछड़ी (सामाजिक) जातियों तथा जनजातीय समुदायों के सामाजिक संगठनों की

मुखर होती राजनैतिक महत्वाकांक्षाएं। इन समुदायों ने लंबे अर्से तक राजनैतिक अवहेलना का सामना किया है। दूसरी बात कि राजस्थान में ही नहीं मध्यप्रदेश, हरियाणा, उत्तरप्रदेश और बिहार में भी जातीय संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका सामाजिक संबंधों के प्रबंधन के संदर्भ में रही है। परंतु दलित जातियों तथा आदिम जनजातियों के संदर्भ में राजस्थान को छोड़कर अन्य राज्यों में इन संगठनों ने राजनैतिक उत्थान के तहत सामाजिक अस्मिता के सवाल मुखर किए। लिहाजा इन प्रदेशों में इन समुदायों की राजनैतिक महत्वाकांक्षाएं सामाजिक अस्मिता को केन्द्र में लाकर ही फल सकी। परंतु राजस्थान में सामाजिक अस्मिता और उससे जुड़े आर्थिक सवालों को दरकिनार कर राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को ही इन जातीय/जनजातीय संगठनों के माध्यम से आगे बढ़ाया गया। अन्य प्रदेशों में सामाजिक अस्मिता और सामाजिक भेदभावों के खिलाफ पिछड़ी जातियां तथा जनजातीय समूह लंबे अर्से तक सामूहिक चेतना के साथ लामबंद होते रहे हैं। इन मुद्दों को लेकर राजनैतिक और सामाजिक आंदोलन चलते रहे। परंतु राजस्थान मूलतः सामंती जातीय परिवेश को सामाजिक वर्चस्ववादी वर्ग के पकड़ के चलते बदल नहीं पाया। भले ही विभिन्न हिस्सों में वर्चस्ववादी वर्ग का हिस्सा बनते जातीय समुदाय अलग रहे हों लेकिन सामाजिक परिवेश का मूलभूत ढांचा सामंती जातीय विलगाव पर आधारित रहा है। ऐसे में चुनाव के रूप में राजनैतिक प्रक्रियाएं चली तो इस जातीय विलगाव को परस्पर टकराती राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं में तब्दील करना राजनैतिक पार्टियों और वर्चस्ववादी शासक वर्ग के लिए अपना स्थान अपने वर्गहितों के साथ बचाए रखने का अवसर बना।

जातीय संगठन राजस्थान के सामंती परिवेश में उस 'प्रजा' का हिस्सा थे जिन पर शासक वर्ग राज करता है। जातीय संगठनों के कार्यक्षेत्र को शासक वर्ग ने अबाधित और अलग रखा। मानो, राजकाज लौकिक परिवेश का हिस्सा हो और जातिगत सामाजिक संबंध प्रबंधन कोई पवित्र/परालौकिक जहां अधिकतर जातीय समुदाय आधारित संगठन राज्य व्यवस्था से अधिकृत तौर पर किसी भी समुदाय की प्रतिनिधिक आवाज के रूप में नहीं देखे जाते। ना तो इनका कोई वैधानिक अस्तित्व ना ही इनका संरचनातंर्गत वैधानिक प्रक्रिया के तहत कोई निर्णय-क्रियान्वयन होता है। यह सामुदायिकता पर टिका ढांचा व्यक्ति के अधिकारों अथवा उनकी इच्छाओं को नहीं देखता। समुदाय के रूप में एक काल्पनिक पहचान भर है जिसे नियमों, परंपराओं और जातिगत रीति-रिवाजों का अमली जामा पहनाया जाता है। सामंती समाज व्यवस्था के तहत ये संगठन परिवर्तनशीलता के लिए चुनौती पेश करते हैं। शासक वर्ग के लिए इनकी अहमियत एक प्रजा के रूप में है जो अपनी परंपरा, रीतिरिवाज, वर्जनाएं और आस्थाओं की स्वायत्तता से जी बहला सके। राज्य व्यवस्था जब भौतिक साधनों पर अपने निरंकुश स्वामित्व को लागू करती है तो जनतंत्र साधन-साध्य के बीच द्वंद्व की कड़ी को खो देता है। राज्य व्यवस्था शासक वर्ग के हितों को अबाधित रखते हुए अपने ही संरचना में ऐसा उपनिवेश विकसित करता है जो साधनों की सार्वभौमता खो बैठा हो। यह उपनिवेश है हमारा 'प्रजातंत्र' जिसके पास आस्थाओं की राजनीति के अलावा कोई साधन 'राज्यतंत्र' द्वारा छोड़े नहीं गए। हिंसक बनना उसकी विवशता है और सहयोजित होना उसकी नियति।

सामंती सामाजिक परिवेश में जातिगत संगठन 'राज्यतंत्र' और 'लोकतंत्र' के बिलगाव को दर्शाते हैं। दरअसल लोकतंत्र अथवा जनतंत्र में जैसे राज्य और नागरिक इनके बीच कोई विलगाव नहीं हो सकता वैसे ही आस्थाएं और भौतिक साधनों के बीच विलगाव भी नहीं होना चाहिए। सामंती परिवेश और जातीयवादी सामुदायिक विलगाव जनतंत्र के मूलभूत संस्कारों को पनपने की जमीन नहीं छोड़ते। जब तक जनतांत्रिक मूल्य, जातिगत परंपराओं, वर्जनाओं और रीतिरिवाजों का आस्थागत स्थान नहीं लेते तब तक राज्य व्यवस्था को 'राज्यतंत्र' और 'लोकतंत्र' के बीच तैयार हुई खाई को पाटना संभव नहीं होगा।

साधनों का सार्वभौमिकीकरण एक आवश्यक प्रक्रिया है आस्थाओं के राजनीतिकरण की अवसरवादिता को रोकने और व्यक्तियों को नागरिकत्व की भूमिका को निभाने के अवसर उपलब्ध करने के लिए।

साधनों के सार्वभौमिकरण के अभाव में समुदाय और उनका समाजतंत्र शासकवर्ग (जिनके पास साधनों पर आधारित सत्ता है) के उपनिवेश साबित होते हैं। व्यक्ति और खासकर महिलाएं जिन्हें समुदायों की काल्पनिक पहचान के सामने बौना किया जाता है, सामुदायिक शक्ति के उपनिवेश बनते हैं। जातिगत संगठन अपनी सामुदायिक पहचान को साबित करने और टिकाए रखने के लिए जहां व्यक्ति की आवाजों में प्रतिरोध के स्वरों को दबाते हैं वहां महिलाओं की आवाज इस सामुदायिकता का हिस्सा भी नहीं है। महिलाएं सामुदायिक सामाजिक प्रबंधन में निर्णय प्रक्रिया से वैसे ही नदारद जैसे राज्य व्यवस्था और राजपाट से समुदाय। राज्य व्यवस्था जैसे समुदायों को 'प्रजा' मानती है तो समुदायों की 'प्रजा' है महिलाएं और व्यक्तिगत आकांक्षाएं। भौतिक साधनों पर सार्वभौमिक नियंत्रण के अभाव में समुदाय अगर आस्थाओं की राजनीति के अवसर तलाशते हैं तो व्यक्तिगत आकांक्षाओं और महिलाओं के पास असुरक्षा और संत्रास में जीने अथवा मरने के 'अवसर' हैं। समुदायों के पास ताकत के रूप में उनकी सामुदायिकता है जिसका कम से कम जनतंत्र की चुनावी प्रक्रिया में महत्व है परंतु व्यक्ति और खासकर महिलाएं (जिसे 'आधी आबादी' के रूप में समूह माना जा सकता है) विभिन्न समुदायों में अथवा परिवारों में बंटी हुई हैं। जैसे सामंती सामाजिक संरचना अलग-अलग जातीय/जनजातीय विलगाव पर टिकी है वैसे ही समुदायों की पहचान टिकी है महिलाओं की स्वायत्त गतिशीलता पर लगे अंकुश पर। समुदायों की सामाजिक प्रस्थिति इस बात पर निर्धारित होती है कि वे कितनी शुचिता के साथ अपनी सीमाओं को बनाए रखते हैं। जितना समुदाय अपने सदस्यों पर वर्जनाओं का नियंत्रण सख्ती से लागू करेगा उतना वह अपने आपको सामाजिक संरचना में विशिष्टता की ओर बढ़ा पाएगा। जिन समुदायों के पास भौतिक साधन नहीं हैं उन्हें जीवनयापन की जद्दोजहद के चलते अपनी सीमाओं की शुचिता पर ध्यान देना संभव ही नहीं है। ऐसे में वह अपने सदस्यों पर नियम लागू करता है जिनको चुनौती दी जा सके। स्वाभाविक है कि महिलाएं जिन्हें समुदायों की अस्मत के रूप में देखा जाता है—उनके संदर्भ में नियमों के मानदंड कड़े बनाए जाते हैं। अगर समुदाय किसी संदर्भ में राज्य व्यवस्था से अपनी स्वायत्तता बचाना चाहता है तो वह उसका यही औपनिवेशिक अंकुश है जो वह अपनी स्त्रियों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं पर लगाता है।

इस सामंती सामाजिक संरचना के साथ राजस्थान में महिलाएं सार्वजनिक क्षेत्र में दृश्यमान हुई तो वो जनतांत्रिक प्रक्रियाओं के तहत राज्य की स्थानीय संस्थाओं में और अब राज्य स्तरीय वैधानिक संस्थाओं में। पहले स्थानीय संस्थाओं में आरक्षण के तहत निर्णय प्रक्रिया का हिस्सा बनी और अब बिना किसी आरक्षण के महिलाएं (28) विधानसभा में आयी हैं। राज्य में जातिगत संघर्षों के तीखे मुकाबले में राजनैतिक समीकरणों के दायरे में ही सही परंतु महिलाएं बड़ी संख्या में विधानसभा में आ पाई। इन वैधानिक संस्थाओं में संस्थागत आरक्षण के लिए ना जाने कितना इंतजार करना पड़े परंतु वर्तमान हालातों ने महिलाओं को ये अवसर प्रदान किए हैं। अब ये द्वंद्वात्मक प्रश्न है कि इन महिला विधायकों में समुदायगत उपनिवेश और राज्य के प्रतिगामी दमन से लड़ने की चेतना कितनी होगी। दरअसल यह सवाल हर उस व्यक्ति के लिए लाजमी है जो किसी सामूहिक पहचान के साथ सार्वजनिक दायित्व के लिए प्रतिनिधिक रूप से चुना गया हो। या यूं कहें कि हर नागरिक के लिए यह सवाल है कि वह अपने लिए प्राप्त अवसरों को कितना सहगामिता में परिवर्तित करता है। इस चेतना का विकास ही 'प्रजा' से नागरिक बनने की संभवतः स्वाभाविक प्रक्रिया है।

समुदायों द्वारा भौतिक साधन-संसाधनों पर उनके अधिकारों को राज्य-व्यवस्था द्वारा छीने जाने से भी कई सदियों पहले महिलाएं इन अधिकारों को खो चुकी थीं। सामंती व्यवस्था के अंतर्गत राज्य, समुदाय और परिवारों के तिहरे शोषण की अवहेलना को चरम पर पहुंचाया आर्थिक साम्राज्यवाद और उदारीकरण ने। ऐसे में जब-जब महिलाओं ने सामूहिकता की आवाज बुलंद की तब तब उन्हें परिवार और परंपराओं की दुहाई दी गई। सहयोजन की प्रक्रिया के तहत राज्य द्वारा प्रायोजित कार्यक्रमों के अंतर्गत जातिगत समूहों में उनकी सामूहिकता को विखंडित किया गया। उन्होंने फिर हालातों को अवसरों में तब्दील किया है। राजनीति में राज्य व्यवस्था द्वारा प्रायोजित संघर्षों में महिलाएं और व्यक्तिगत आकांक्षाएं किसी फिनिक्स की राख से फिर जी उठी है। ये वो दबे स्वर हैं जिन्हें उन्हीं की जमीन पर परिवार समुदायों तथा राज्य व्यवस्था ने कुचला था। इस असुरक्षा से लड़ने की हर राजनीति जनतंत्र में संभव है। हम कैसे भूलें कि इसी राजस्थान ने महिला सुरक्षा को लेकर बने 'विशाखा' कानून की लड़ाई लड़ी थी। राज्य से पारदर्शिता की अपेक्षा रखते हुए सूचना के अधिकार की लड़ाई लड़ी थी। नागरिक होने के नाते लोग राज्य व्यवस्था में जनपक्षधरता के साथ जनसहभागिता भी चाहते हैं। राज्य 'जन' के प्रति जवाबदेही रखे तो बंदूके उठाने की नौबत ना समुदायों पर आएगी ना सरकारों पर। राजस्थान के चुनावी जनादेश ने इसका उदाहरण पेश किया है।

मुंबई हमलों के बाद केंद्र सरकार राज्य व्यवस्था को 'हार्ड स्टेट' बनाने की वकालत कर रही है। वह प्रतिरोध की आवाज को राज्य विरोधी करार देने वाला और ऐसी हर आवाज को दबाने की ताकत राज्य को देनेवाला विधायक लाना चाहती है। तभी राजस्थान में पानी से लेकर आरक्षण की मांग उठाने वाली हर आवाज बंदूके ताननेवाली सरकार का जनतंत्र ने तख्ता पलट दिया है। लोगों को 'प्रजा' मानकर किया गया दोहन अंतत्वोगत्वा राज्य के लिए वैधानिकता के खतरे पैदा करेगा। इसके विपरीत राज्य जनसहभागिता के लिए जितनी पहल करेगा उतना जनतंत्र की साख मजबूत बना पाएगा। मिशेल वॉलझर ने कहा है कि जनतांत्रिक राज्य ही जनतांत्रिक नागरिक समाज बना सकता है; जनतांत्रिक नागरिक समाज ही जनतांत्रिक राज्य को टिकाए रख सकता है। नागरिकत्व सहगामिता पर आधारित जनतांत्रिक राजनीति के आधार पर सक्षम बनाया जा सकता है। अभिजनों का राजनीति और राजनेताओं का विरोध दरअसल संप्रभुता और अधिनायकत्व की जमीन बनाता है। जनतंत्र के लिए जनसहभागिता का पर्याय हो ही नहीं सकता। ऐसे में क्या राज्य का दायित्व नहीं कि वे जनपक्षधर व्यवस्थाओं का निर्माण करे?